

भारतीय संविधान में धर्म और राज्य के सम्बन्धों का स्वरूप

साधना पाण्डेय

राजनीतिशास्त्र विभाग, उच्च शिक्षा उत्कृष्टता संस्थान, भोपाल

शोध सारांश

भारत जैसे विशाल एवं विविधतापूर्ण देश में राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के लिये धर्मनिरपेक्षता का आदर्श ही सर्वोत्तम है, यह तथ्य भारतीय संविधान निर्माताओं के मन में स्पष्ट था। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर संविधान के विविध उपबन्धों में इस आदर्श को व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया गया। 1976 में हुये बयालिसवें संविधान संशोधन द्वारा इसे भारतीय संविधान की प्रस्तावना में जोड़कर संविधान के मूल ढाँचे का भाग भी बनाया गया। धर्मनिरपेक्षता से आशय किसी भी प्रकार के धार्मिक विरोध से नहीं है बल्कि यह सभी धर्मों के मध्य समभाव स्थापित करने का दर्शन है। सभी धर्मों को समान अवसर व महत्व देकर धर्मों के मध्य सद्भाव स्थापित करने व राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने का दर्शन है।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि धर्मनिरपेक्षता और प्रजातंत्र की समान सांस्कृतिक जड़ें हैं। स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व प्रजातंत्र के सर्वमान्य मूल्य हैं। स्वतंत्रता का सही उपयोग भी वही व्यक्ति कर सकता है जो कि आत्मनिर्भर हो, स्वतंत्र मस्तिष्क वाला हो तथा अपने विवेक पर विश्वास करता हो। केवल एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति ही वास्तव में लोकतांत्रिक तथा एक लोकतांत्रिक व्यक्ति ही वास्तव में धर्मनिरपेक्ष भी हो सकता है। भारत में सदैव से ही धर्म का विशेष महत्व रहा है किन्तु कालान्तर में धर्म के संकुचित रूप का प्रचलन हो गया और धर्म के नाम पर अनेक मत मतान्तर प्रचलित हो गये जिनके परिणाम स्वरूप समाज विभिन्न वर्गों में विभाजित हो गया जिससे राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचा। धार्मिक मत-मतान्तरों के इन दुष्परिणामों को देखते हुये भारतीय संविधान निर्माताओं ने धर्म निरपेक्षता के आदर्श को अपनाया। धर्म के आधार पर किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा यह इस देश की एक परम्परा भी रही है और स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी इस सिद्धान्त की ही वकालत की थी। संविधान सभा में ही यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी थी कि धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य धर्म विरोध से नहीं है तथा राज्य एक धर्म विरोधी राज्य न होकर नैतिकता, आध्यात्मिकता और मानवधर्म पर आधारित एक वास्तविक धार्मिक राज्य होगा। यहाँ इस बात को रेखांकित कर देना भी आवश्यक है कि संविधान के मूल प्रस्ताव में धर्म निरपेक्ष एवं समाजवाद शब्दों का अलग से समावेश नहीं किया गया था किन्तु उसकी भावना को पूरा स्थान दिया गया था। “1976 में किये गये बयालिसवें संशोधन द्वारा धर्म निरपेक्षता एवं समाजवाद शब्दों को संविधान

की प्रस्तावना में ही जोड़ा गया”¹। यह सत्य है कि धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार कर संविधान निर्मात्री सभा ने एक शानदार कार्य किया।

उदारवादी लोकतंत्र के विकास के साथ ही धर्म निरपेक्षता की अवधारणा का विकास हुआ। समानता एवं स्वतंत्रता के अधिकारों का उपयोग तभी सम्भव है जब बिना किसी धार्मिक संकीर्णता के उनका वितरण एवं संरक्षण हो। वस्तुतः धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया हमारे राष्ट्रीय जीवन का ताना बाना है क्योंकि यह मात्र एक अमूर्त सिद्धान्त, दार्शनिक मत अथवा सांस्कृतिक विलास नहीं है, बल्कि यह हमारी मिली जुली विरासत के सूक्ष्म तंतुओं का प्राण है।

धर्म निरपेक्षता सामाजिक न्याय का आधार है। धर्म निरपेक्षता (जिसके अन्तर्गत ही समानता तथा स्वतंत्रता के अधिकारों का सही एवं निष्पक्ष उपयोग सम्भव है) के आदर्श को प्राप्त करने के लिये भारतीय संविधान के अन्तर्गत अनेक व्यवस्थाएं की गयी हैं। संविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकारों तथा नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अध्यायों में भारत की कानून व्यवस्था के सर्वोपरि तत्वों के रूप में धर्म निरपेक्ष मानवतावाद और सामाजिक न्याय को रेखांकित किया गया है। संविधान सभा के एक सदस्य पंडित लक्ष्मीकांत मैत्रा ने संविधान में निहित धर्मनिरपेक्ष राज्य की सम्पूर्ण धारणा की बड़ी स्पष्ट तौर पर व्याख्या की। उन्होंने 8 दिसम्बर 1948 को कहा कि “धर्मनिरपेक्ष राज्य से मेरा आशय यह है कि राज्य किसी व्यक्ति के प्रति, जो किसी विशेष प्रकार का धार्मिक विश्वास रखता हो, केवल धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर विभेद नहीं करेगा”²। सार रूप में इसका यह अर्थ है कि राज्य किसी विशेष धर्म को प्रश्रय नहीं देगा। राज्य किसी धर्म की उपेक्षा नहीं करेगा या दूसरे धर्मों की तुलना में किसी धर्म को स्थापित, संरक्षित व पोषित नहीं करेगा। राज्य में किसी नागरिक को न तो उच्चता प्रदान की जायेगी और न उसके प्रति इस आधार पर कोई विभेद किया जायेगा कि यह किसी विशेष धर्म का पालन करता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि राज्य के कार्यों में किसी धर्म विशेष का अनुपालन लेशमात्र भी विचारणीय नहीं होगा। मैं इसे धर्म निरपेक्ष राज्य का सार समझता हूँ। साथ ही हमको इस दृष्टि के प्रति भी सजग रहना चाहिये कि हमारे देश में किसी विशेष धर्म के पालन व आचरण के अधिकार से ही नहीं वरन् किसी भी धर्म का प्रचार करने के अधिकार से कोई संचित न होने पाये इसलिये संविधान में इसका केवल अधिकार के रूप में नहीं वरन् मौलिक अधिकार के रूप में प्रावधान किया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समान सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय, भाईचारा और व्यक्ति की गरिमा, धर्म, विश्वास और पूजा के मामले में स्वतंत्रता व धर्मनिरपेक्षतावाद की सकारात्मक घोषणा हमारे संविधान की प्रस्तावना में है। “हमारे गतिशील संविधान में सकारात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार का धर्मनिरपेक्षवाद है। कानून में भेदभाव का निषेध है और सबको समान संरक्षण देने की वचनबद्धता है”³।

जब कोई नागरिक अपने किसी अधिकार को अदालत सरकार या विधानमण्डल में लागू करना चाहे तो कोई यह नहीं पूछ सकता कि वह किस धर्म का है। इसी प्रकार मूलभूत दायित्व समान रूप से

हिन्दू मुसलमान तथा अन्य सभी नागरिकों पर लागू होते हैं”⁴। इन बुनियादी राष्ट्रीय दायित्वों का स्वरूप धर्म निरपेक्षता के मूल्य को मजबूत करता है। उदाहरण स्वरूप - प्रत्येक नागरिक पर चाहे वह किसी भी धर्म का हो, यह दायित्व सौंपा गया है कि धर्म से ऊपर उठकर सभी नागरिकों के बीच सद्भाव और भाईचारे की भावना को

बढ़ाये। वह दूसरे के प्रति सहानुभूति का भाव, वैज्ञानिक दृष्टि, मानवतावाद, जिज्ञासा और सुधार की भावना अपने में उत्पन्न करें।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 38 में उल्लेखित न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था गतिशील धर्मनिरपेक्षवाद है तो सारे समाज पर लागू होता है जो धर्म, जाति, विश्वास की किसी पूर्वाग्रह पूर्ण तथा विभाजक कसौटी को नहीं मानता और सभी मनुष्यों के मध्य एकता, उनके कल्याण तथा आर्थिक न्याय पर जोर देता है।

अनुच्छेद 38 (1) में धर्म निरपेक्ष गणतंत्र के संवैधानिक सारतत्व को अपने अर्थपूर्ण उद्देश्य के साथ इस प्रकार व्यक्त किया है "राज्य सभी नागरिकों के कल्याण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से ऐसी सामाजिक व्यवस्था का यथासंभव रक्षण संरक्षण करेगा जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय मिले"⁵।

राजकीय नीति- निर्देशक सिद्धान्तों में, जिसमें सशक्त समाजवादी पुट हैं, राज्य को आदेश दिया गया है कि वह समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष नीतियां अपनाये और मानवीय न्याय की बातों पर बल दें"⁶। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि धर्म निरपेक्षता के मूल्य राज्य की सभी गतिविधियों में नागरिक के संबंध में लागू होते हैं, भले ही उनके धर्म, विश्वास जो भी हों।

समानता धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र का बुनियादी आधार स्तम्भ है और भारतीय संविधान में इस समानता को निम्न रूपों में रेखांकित किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 14 से 18 के अन्तर्गत समानता के सिद्धान्त को संरक्षित किया गया है।

भारतीय संवैधानिक प्रणाली की यह प्रमुख विशेषता कही जानी चाहिये कि इसमें अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण का विशेष प्रावधान किया गया है, साथ ही साथ वे बहुसंख्यक समुदाय के समान विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक अधिकारों का उपयोग करते हैं। संविधान के द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि "नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी पृथक भाषा, लिपि या संस्कृति को सुरक्षित रखने का अधिकार है"⁷। केवल धर्म, वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी एक आधार पर राजकीय या राजकीय सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षण संस्था में किसी नागरिक को प्रवेश से रोका नहीं जा सकता है। इसको अपर्याप्त समझते हुये तीसवें अनुच्छेद द्वारा यह भी जोड़ा गया है कि "धर्म व भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व उनके संचालन का अधिकार होगा तथा शिक्षा संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा कि वे किसी धर्म व भाषा पर आधारित अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन है"⁸।

अल्पसंख्यकों के बारे में ये प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 29 एवं 30 के द्वारा केवल स्पष्ट रूप से वर्णित ही नहीं हैं, वरन् विभिन्न प्रमुख विवादों में दिये गये न्यायिक निर्णयों द्वारा भारत में अल्पसंख्यकों की स्थिति को अधिक स्पष्ट भी किया गया है जिससे उन्हें इस देश में अपने हितों के बारे में कोई आशंका न रहे। अतः भारत ने जान स्टुअर्ट मिल जैसे महान प्रजातांत्रिक के इस प्रसिद्ध नियम को उचित सम्मान दिया है कि "यह पूर्णतया

निश्चित है कि अल्पसंख्यकों का वास्तविक निष्कासन स्वतंत्रता के लिये न तो आवश्यक है और न उसका आवश्यक परिणाम है। बल्कि यह प्रजातंत्र के मूल सिद्धान्तों के पूर्णतया विपरीत है”।

वास्तव में संविधान के तृतीय भाग में महत्वपूर्ण अधिकार जोड़ते समय हमारे संविधान निर्माताओं के ध्यान में यह महत्वपूर्ण तथ्य अवश्य था कि उन अल्पसंख्यकों की स्थिति को कैसे सुरक्षित किया जाये जो बहुसंख्यकों के सम्भावित निरंकुश शासन से अपने को असहाय समझते थे तथा असुरक्षा के कारण भयभीत रहते थे। वे यह भी जानते थे कि “स्वतंत्र लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों की संस्कृति, धर्म व अन्य हितों का संरक्षण अनिवार्य है और वह केवल व्यक्ति के लिये लिखित अधिकारों को प्रत्याभूत करने से ही सम्भव हो सकता है”।

वास्तव में अल्पसंख्यकों का अपनी इच्छानुसार शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन करने का अधिकार अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति को संरक्षित करने के अधिकारों का स्वाभाविक परिणाम है जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने ‘एक आवश्यक समयोग’ बताया। यह सुविधा केवल संविधान लागू होने के बाद स्थापित शैक्षणिक संस्थाओं के लिये ही सीमित नहीं है। यह संविधान पूर्व व संविधान के बाद स्थापित होने वाली संस्थाओं के लिये भी लागू होती है।

इस संदर्भ में संविधान के प्रावधानों और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को इस रूप में नहीं लिया जा सकता कि अल्पसंख्यकों के उपर्युक्त अधिकार प्रतिबन्धों से परे हैं। राज्य राष्ट्रीय या लोकहित में उन पर औचित्यपूर्ण प्रतिबंध लगा सकता है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना जरूरी है कि जो संस्थाएं अनुच्छेद 30 के अनुसार संरक्षण का दावा करती हैं, उन्हें राज्य द्वारा नहीं बल्कि अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित होना चाहिये।

धर्म निरपेक्षता का आदर्श धर्म को व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास की वस्तु मानता है। अतः संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुये सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता अर्थात् किसी भी धर्म का पालन करने, प्रचार एवं प्रसार करने का अधिकार होगा। भारतीय धर्मनिरपेक्षतावाद के सिद्धान्त में लोगों की बढ़ती सामाजिक व नैतिक जागरूकता के अनुसार परिवर्तन होना चाहिये तथा यह निर्धारित करने का अधिकार न्यायपालिका पर छोड़ दिया गया है कि, वह देखे कि राज्य द्वारा अनुच्छेद 25 के अनुसार आत्मा की स्वतन्त्रता पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे संविधान में निहित धर्म निरपेक्ष धारणा के अनुकूल हैं या नहीं। यह अनुच्छेद भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है। राज्य किसी भी धर्म विशेष का पक्ष नहीं लेगा न उसे कोई विशेष सुविधा प्रदान करेगा। भारतीय

संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 के अन्तर्गत धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार को संरक्षित किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी भी धर्म को स्वीकार करने, अनुसरण एवं प्रचार करने के लिये स्वतंत्र होगा। डॉ. राधाकृष्णन ने भारतीय राज्य के धर्म निरपेक्ष स्वरूप पर प्रकाश डालते हुये कहा कि “भारतीय राज्य न तो किसी धर्म द्वारा नियंत्रित होगा और न किसी धर्म विशेष से संबंधित होगा। हम किसी एक धर्म को वरीयता का स्थान या अद्वितीय स्तर प्रदान करना नहीं चाहते। किसी एक धर्म को राष्ट्रीय जीवन में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों में विशेष सुविधाएं प्राप्त नहीं होंगी”⁹।

इन व्यवस्थाओं का उद्देश्य समाज को धर्म के नाम पर होने वाले शोषण से बचाना था तथा नागरिकों को सच्चे अर्थों में धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। धार्मिक स्वतंत्रता से संबंधित कुछ उपबन्धों की व्याख्या से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है यद्यपि राज्य पूर्णतः धार्मिक निष्पक्षता का व्यवहार करेगा किन्तु साथ ही समाज सुधार के लिये वह कोई भी कदम उठा सकता है तथा सार्वजनिक व्यवस्था स्वास्थ्य एवं नैतिकता के उद्देश्य से धार्मिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद एक जड़ नहीं वरन् गतिशील अवधारणा है। यह एक विवेक सम्मत विचार है जिसके अनुसार राजनीति में धार्मिक हस्तक्षेप की तो मनाही है किन्तु सामाजिक कल्याण के नाम पर राज्य धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है। भारत के एक लोक कल्याणकारी राज्य होने के कारण संविधान ने राज्य को जनहित में आवश्यक विधायन करने के लिये अधिकृत किया है जिसमें किसी भी धर्म के सिद्धान्तों में हस्तक्षेप नहीं समझा जायेगा।

इन सभी उपबंधों व तथ्यों से यह नितान्त स्पष्ट है कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है धर्म विरोधी राज्य नहीं। एक व्यक्ति, एक मूल्य, एक वयस्क-एक मत यही है कानून का शासन, जिस पर धर्मनिरपेक्षता की छाप है।

वास्तव में राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में धर्म निरपेक्षता को रखकर जब हम विचार करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत जैसे विशाल देश में धर्म निरपेक्षता न केवल आवश्यक और उपयोगी है, बल्कि सही मायने में इसका कोई दूसरा विकल्प सम्भव ही नहीं है। भारतवर्ष की विविधता में अन्तर्निहित जिस एकता के स्वरूप का वर्णन करते हुये हम कभी नहीं थकते। उस वैविध्य में पनपने वाली एकता की रक्षा धर्म निरपेक्षता के अतिरिक्त किसी दूसरी नीति या दर्शन से सम्भव ही नहीं। अतः धर्मनिरपेक्षता का आदर्श ही भारत के लिये नितान्त औचित्यपूर्ण है। यह सामान्य काल में धर्म एवं राजनीति को न केवल एक दूसरे से अलग रखती है, बल्कि असाधारण परिस्थितियों में सामाजिक सुधारों की आवश्यकता के लिये धर्म को राजनीति के अधीन भी बना देती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय संवैधानिक संशोधन - 42, 1976
2. लक्ष्मीकान्त मैत्रा - 8 दिसम्बर, 1948
3. कान्सटीट्यूशन असेम्बली डिबेट, वाल्यूम-7
4. मौलिक कर्तव्य - अनुच्छेद 51 'क'
5. भारतीय संविधान - अनुच्छेद 38 (1)
6. भारतीय संविधान - भाग-4
2. भारतीय संविधान - अनुच्छेद 29

3. भारतीय संविधान - अनुच्छेद 30
4. डॉ. प्रसाद विश्वनाथ - गाँधी और धर्म, पृष्ठ-48